स्वमन्तव्यामन्तव्य

मौलिक ज्ञान में दी गई सामग्री को पढ़ने के पश्चात ही इसे पढ़ें ।

अथ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

- महर्षि दयानन्द सरस्वती

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिये इस को सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिस का विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए उस को अन्यथा जानें वा मानें, उस का स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते, किन्तु जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सब को मन्तव्य और जिस को नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से उसका प्रमाण नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ जिन को कि मैं मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में एक सा सब के सामने मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा इन देशों में अधर्मयुक्त चाल चलन

है उस का स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उन का त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों-उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उस का नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उस को कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इस में श्रीमान् महाराजे भर्तृहरि, व्यास जी और मनु ने श्लोक लिखे हैं, उन का लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूँ-

निन्दन्तु....धीरा।

-भर्तृहरिशतक (नीतिशतक ८५)

न जातु....हेतुरस्य त्वनित्यः।।

-महाभारत (उद्योगपर्व-प्रजागरपर्व अ0 ४0 श्लोक ११-१२)

एक....गच्छति। -मनु (८/१७)

सत्यमेव....निधानम्। --मुण्डकोपनिषद् (३/१/६)

न हि....समाचरेत्। -- (तुलना-मनु0 ८/१२)

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय से अनुकूल निश्चय रखना सबको योग्य है। अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूँ उन-उन का वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है। इन में से प्रथम-

१. 'ईश्वर' कि जिसको ब्रह्म, परमात्मादि नामों से कहते हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि परमेश्वर है उसी को मानता हूँ।

२. चारों 'वेदों' को विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ अर्थात् जो स्वयं प्रमाणरूप हैं, कि जिस के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा न हो जैसे सूर्य्य वा प्रदीप स्वयं अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के , छः अंग छः उपांग चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उन को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उन का अप्रमाण करता हूँ।

३. जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उस को ''धर्म' और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वरराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है उस को ''अधर्म' मानता हूँ।

४. जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को ''जीव' मानता हूँ।

५. जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्रवत् आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।

६. "अनादि पदार्थ" तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरी प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उन के गुण, कर्म स्वभाव भी नित्य हैं।

७. "प्रवाह से अनादि" - जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिस से प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उन में अनादि है, और उस से पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीन (को) प्रवाह से अनादि मानता हूँ।

८. "सृष्टि" उस को कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल हो कर नानारूप बनना।

९. "सृष्टिका प्रयोजन" यही है कि जिस में ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उस ने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

१0. 'सृष्टि सकर्तृक' है। इस का कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने, जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का 'कर्त्ता' अवश्य है।

११. ‘बन्ध’ सनिमित्तक अर्थात् अविद्यादि निमित्त से है। जो-जो पाप कर्म ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि ये सब दुःख फल करने वाले हैं। इसी लिये यह ‘बन्ध’ है कि जिस की इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२. ‘मुक्ति’ अर्थात्सब दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३. ‘मुक्ति के साधन’- ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरूषार्‌थ आदि हैं।

१४. ‘अर्थ’- जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय। और जो अधर्म से सिद्ध होता है उस को ‘‘अनर्थ’ कहते हैं।

१५. ‘काम’ वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।

१६. ‘वर्णाश्रम’ गुण कर्मों के योग से मानता हूँ।

१७. ‘राजा’ उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म का सेवी, प्रजा में पितृवत् वर्ते और उन को पुत्रवत् मान के उन की उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

१८. ‘प्रजा’ उस को कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके पक्षपातरहित न्यायधर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।

१९. जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे, अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे, उस को 'न्यायकारी' मानता हूँ।

२0. 'देव' विद्वानों को, और अविद्वानों को 'असुर', पापियों को ''राक्षस', अनाचारियों को ''पिशाच' मानता हूँ।

२१. उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना 'देवपूजा' कहाती है, इस से विपरीत अदेवपूजा। इन मूर्तियों की पूजा कर्तव्य, इन मूर्तियों से इतर जड़ पाषाणादि मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।

२२. 'शिक्षा'- जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और इनसे अविद्यादि दोष छूटें, उस को शिक्षा कहते हैं।

२३. 'पुराण'- जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।

२४. 'तीर्थ'- जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरूषार्‌थ विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उसी को तीर्थ समझता हूँ, इतर जलस्थलादि को नहीं।

२५. 'पुरुषार्थ' 'प्रारब्ध' से बड़ा इसलिये है कि जिस से संचित प्रारब्ध बनते जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

२६. 'मनुष्य' को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूँ।

२७. 'संस्कार' उसे कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये।

२८. 'यज्ञ' उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जोकि पदार्थ विद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि-जल, ओषधी की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना, उसको उत्तम समझता हूँ।

२९. जैसे 'आर्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूँ।

३0. 'आर्यावर्त्त' देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि जिस में आदि सृष्टि से पश्चात् आर्य लोग निवास करते हैं परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है उसी को 'आर्यावर्त्त' कहते और जो इस में सदा रहते हैं उन को भी आर्य कहते हैं।

३१. जो सांगोपांग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है।

३२. शिष्य- उस को कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।

३३. गुरु- माता, पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी 'गुरु' कहाता है।

३४. पुरोहित-जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५. उपाध्याय-जो वेदों का एकदेश वा अगों को पढ़ाता हो।

३६. शिष्टाचार-जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार, और जो इसको करता है वह 'शिष्ट' कहाता है।

३७. प्रत्यक्षादि आठ 'प्रमाणों' को भी मानता हूँ।

३८. 'आप्त' - जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को 'आप्त' कहता हूँ।

३९. 'परीक्षा' पाँच प्रकारी है। इस में से प्रथम जो ईश्वर- उसके गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवी अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या, इन पाँच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४०. 'परोपकार' जिससे सब मनुष्यों के दुराचार, दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

४१. 'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र'- जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार काम करने में स्वतन्त्र है।

४२. स्वर्ग-नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३. नरक-जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।

४४. जन्म-जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार के मानता हूँ।

४५. शरीर के संयोग का नाम 'जन्म' और वियोग मात्र को 'मृत्यु' कहते हैं।

४६. विवाह- जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना 'विवाह' कहाता है।

४७. नियोग- विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा पुरुष आपत्काल में स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष (वा स्त्री) के साथ नियोग कर सन्तानोत्पत्ति कर लेवें।

४८. स्तुति- गुणकीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना, इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९. प्रार्थना- अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करनी और इसका फल निरभिमान आदि होता है।

५०. 'उपासना'- जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जान के, ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, वैसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती है, इस का फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१. 'सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना'- जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति कहाती है और शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुणनिर्गुणप्रार्थना और सब दोषों से रहित, सब गुणों से सहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना निर्गुणसगुणोपासना कहाती है।

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रकरण-प्रकरण में है तथा भूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात सबके सामने माननीय है, उसको मानता अर्थात् जैसा कि सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ। और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता, क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सब को ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़प्रीतियुक्त करा के, सब से सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे और जिससे सब लोग सहज से धमार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके, सदा उन्नत और आनन्दित होते रहैं, (यही) मेरा मुख्य प्रयोजन है।